जगद्गुरु शंकराचार्य

-पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

वैदिक-धर्म के पुनरुद्धारक— जगद्गुरु शंकराचार्य

"माँ वात्सल्यवश छोड़ नहीं सकती, उसे इस बात का मोह है कि—बच्चा बड़ा होकर घर-गृहस्थी चलायेगा, धन कमायेगा, नाती-पोतों का सुख मिलेगा और मेरे अंतःकरण में धर्म, जाति और संस्कृति की रक्षा का सवाल घूमता है। उसके लिए स्वाधीन होने की आवश्यकता है। समाज-सेवा के लिए यदि अब भी कोई ज्वलंत ज्ञान-ज्योति लेकर सामने नहीं आता, तो हमारी वैदिक संस्कृति की रक्षा कैसे होगी ? हे प्रभो ! हे परमात्मन् ! मुझे बल दो, बुद्धि दो, शक्ति दो, ज्ञान दो और दिशा दो, ताकि पीड़ित मानवता और उत्पीड़ित सत्य एवं धर्म को विनाश से बचा सकूँ, प्रकाश दे सकूँ।"

यह प्रश्न एक बालक के मन में आज कई दिन से प्रखर वेग के साथ घूम रहे हैं। बच्चे ने कई बार माँ से आज्ञा माँगी—माँ मुझे समाज-सेवा के लिए उन्मुक्त कर दो। माँ ने उत्तर दिया—बेटा, अभी तो तू छोटा है, अज्ञानी है। अभी तेरी उम्र ही क्या हुई है ? ब्याह-शादी हो, फिर बच्चे हों, मेरी तरह बुड्ढा हो, तब समाज-सेवा भी कर लेना।

"नहीं माँ ! बुड्ढे हो जाने पर शक्ति थक जाती है, उत्साह मंद पड़ जाता है, तब सेवा कार्य नहीं, आत्म कल्याण की साधना हो सकती है। पर आज तो अपने धर्म, जातीय गौरव और पितामह ऋषियों के ज्ञान की सुरक्षा का प्रश्न है, माँ, वह कार्य अभी पूरा हो सकता है। तू मुझे उन्मुक्त कर। सैकड़ों, लाखों माताओं की रक्षा, बालकों को अज्ञान और आडंबर के महापाप से बचाने के लिए यदि तुझे अपने बेटे का बलिदान करना पड़े, तो क्या तुझे प्रसन्नता नहीं होगी ?"

बालक माँ के पास पहुँचा—"माँ आज सोमवती अमावस्या है। हमारी इच्छा है कि आज पवित्र अलवाई में स्नान कर आएँ ?" "हाँ-हाँ बेटा, चल मैं सहर्ष चल रही हूँ, ऐसा पुण्य-सुयोग जाने कब बन पड़े।" माँ-बेटे नदी की ओर चल पड़े। माँ इसलिए खुश थी कि बच्चे का हठ दूर हुआ, बच्चा इसलिए खुश था कि अब अपने उद्‌देश्य की पूर्ति, समाज सेवा के व्रत के लिए उन्मुक्त वातावरण मिल जायेगा। माँ उस रहस्यपूर्ण मुस्कान में भी अपनी विजय को निहार रही थी।

दोनों स्नान करने लगे। माँ किनारे पर थी, पर बच्चा बीच बहाव की ओर तैर गया। दो क्षण ही गुजरे थे कि बालक चिल्लाया—"माँ ! मुझे मगर ने पकड़ लिया।" कभी वह डुबकी लगा जाते, कभी उछलकर ऊपर आते और फिर चिल्लाते—माँ, मुझे मगर घसीटकर लिए जा रहा है। जल्दी से कोई प्रयत्न करो। अन्यथा अब जीवन असंभव है।

माँ रोने, चिल्लाने के अतिरिक्त क्या कर सकती थी ? बचाने वाला कोई भी तो न था। बच्चे ने फिर पुकारा—माँ, अब तो मेरी रक्षा भगवान् शंकर ही कर सकते हैं, वह आशुतोष हैं तू जल्दी ही मुझे उनको समर्पित कर दे, तभी जीवन सुरक्षा हो सकती है अन्यथा मैं तो चला और यह कहकर जैसे ही वह पुनः डुबकी लगाने को हुए—माँ ने आँसू बहाते हुए कहा—"मैं इस बालक को शंकर भगवान् को अर्पण करती हूँ। अब यह मेरा नहीं, शंकर भगवान् का होकर रहेगा। भगवान् ही इसके जीवन की रक्षा करें।"

हाँफते हुए बालक किनारे की ओर चल पड़ा। "माँ ! भगवान् ने मुझे बचा लिया। यह सब तेरी ही कृपा है। माँ, तूने मुझे नहीं मेरी आत्मा को बचा लिया, अब मैं तेरा ही नहीं, शंकर भगवान् का भी हो गया हूँ, सो तेरी ही नहीं—उनकी भी, उनके संसार की भी सेवा करूँगा।"

बच्चे ने कपड़े पहने और माँ से विदा माँगी—माँ रो पड़ी, बेटे ? क्या आज ही चला जाएगा ?

"हाँ, माँ ! अब तो मैं भगवान् का हो गया। अब मुझे गृहस्थ में नहीं जाना चाहिए। मोह त्यागकर, प्रसन्नता अनुभव कर, तेरा बच्चा महान् कार्य के लिए जा रहा है। धर्म और जाति के उद्धार का व्रत लिया है मैंने, माँ, क्या उससे तुझे शांति और संतोष न होगा ?"

"अवश्य होगा बेटा।" माँ ने वात्सल्य भाव से बच्चे की पीठ थपथपाई और आशीर्वाद का हाथ फेरा, पर एक बात याद रखना—"तात, मेरी मृत्यु हो तो दाह-संस्कार तू अपने ही हाथ से करना।" बेटे ने वचन दिया—"माँ कहीं भी होऊँगा, तेरी अंतिम इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा। सारे संसार की सेवा में तेरी सेवा भी तो है।" स्नान करने साथ-साथ आए थे, पर माँ अकेली घर लौटी और बालक साधना, ज्ञान-संचय और धर्मोद्धार के लिए दूसरी ओर चल पड़ा।

संक्षिप्त जीवन परिचय—

जिस बालक के मन में भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन के प्रति किशोरावस्था से ही इतना स्वाभिमान और त्याग भावना थी। वह और कोई नहीं जगद्गुरू शंकराचार्य थे। जिन्होंने तत्कालीन अनाचार और अंधविश्वासों से राष्ट्र जननी का उद्धार ही नहीं किया, वरन् सारे देश को एक सांस्कृतिक सूत्र में पिरोने का गुरुतापूर्ण कार्य भी संपन्न किया। भारत ही नहीं सारा विश्व उनके त्याग और बलिदान का ऋणी है।

भोज प्रबंध आदि के घटना-प्रसंगों से अनुमान लगाया जाता है कि जगद्गुरु शंकराचार्य का जन्म सन् ७८८ के लगभग, आज से १२१२ वर्ष पूर्व केरल प्रांत के एक छोटे-से ग्राम कालड़ी में हुआ। इनके पिता शिवगुरु ग्राम मंदिर के राज-नियुक्त पुरोहित थे, साथ ही भगवान् के प्रति उनकी श्रद्धा और विश्वास अविचलित थी। शंकराचार्य की माता कामाक्षी भी वैसी ही सरल और धर्म परायण थीं। असंभव, संभव हो सकता था, किंतु शिवगुरु की ईश्वर निष्ठा इतनी प्रगाढ़ थी कि उसे आज तक कोई हिला न पाया था। वे नियमपूर्वक ईश्वर-उपासना करते थे। ग्राम-वधुएँ शिवगुरु की पूजा-समाप्ति के बाद जब शंखध्वनि होती, तो फिर बिना विलंब

किए अपने कार्यों के प्रबंध में चली जातीं। उनका विश्वास था कि घड़ी फेल हो सकती है, पर शिवगुरु की उपासना के समय में कभी अंतर नहीं आ सकता।

शिवगुरु को कोई अभाव न था, पर उनके कोई संतान न थी। ४० वर्ष की आयु बीत जाने पर भी जब कोई संतान न हुई तो देवी कामाक्षी बहुत दुःखी रहने लगीं। वह अपना दुःख अपने पति से भी व्यक्त करतीं, तो शिवगुरु हँसते हुए उत्तर देते—पगली हुई हो कामाक्षी, गाँव के सारे बच्चे अपने ही तो हैं, इनकी खुशी में क्या परमात्मा की मुस्कान नहीं दिखाई देती। सब तेरे ही बच्चे हैं, जिसकी सेवा करो—वही अपना है। फिर कमी किस बात की, जब सारा संसार ही अपना है। सब बच्चे अपने ही तो हैं।

नारी-हृदय तो आखिर नारी-हृदय ही ठहरा, कामाक्षी को संतोष न हुआ, पर शिवगुरु को तो भगवान् के विधान पर आस्था थी। वह जब कभी भगवान् शिव की प्रतिमा के सामने जाते और निःसंतान होने की बात उनके मन में आती तो वह यही कहते—भगवन् ! यदि देना हो तो कोई ऐसी संतान देना, जो संस्कारवान् हो, लोक मंगल के लिए जो आत्म सुखों का बलिदान दे सके, जिसके अंतःकरण में धर्म और मानवता के प्रति सच्ची आस्था हो, जो निःस्वार्थ भाव से लोक-सेवा कर सके। यदि ऐसा संभव न हो तो मुझे निःसंतान ही रखना।

सच्ची और निःस्वार्थ आकांक्षाएँ कभी अधूरी नहीं रहतीं। बालक शंकर का जन्म इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। शिवगुरु की जैसी आकांक्षा थी वैसा ही उनका शुद्ध और पवित्र व्यक्तित्व जीवन भी था। संस्कारयुक्त वातावरण में ही संस्कारवान् एवं प्रतिभाशाली आत्माएँ जन्म लेती हैं, फिर यदि शिवगुरु का मनोरथ भी इसी तरह पूर्ण हुआ हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

शिक्षा-दीक्षा

बाल्यावस्था से ही शिवगुरु ने अपने बच्चे में श्रेष्ठ संस्कार डालना आरंभ किया। उसे भूत-प्रेत की कहानियाँ सुनाने की अपेक्षा शिवगुरु उन्हें तत्कालीन समाज में छाई हुई दुर्व्यवस्था की

रोमांचकारी घटनाएँ सुनाया करते और बच्चे के धार्मिक संस्कार परिपुष्ट हों—इसके लिए ईश्वर उपासना, आत्मा, धर्म, दर्शन की जानकारी भी दिया करते थे। सदाचार और सद्गुणों की ओर प्रेरित करने के लिए रामायण, महाभारत की कथाएँ और महापुरुषों के जीवन चरित्र सुनाया करते। पिता की दीक्षा पुत्र को बलवान् आध्यात्मिक संस्कारों के रूप में मिलने लगी।

इसी बीच शिवगुरु का देहावसान हो गया। माँ कामाक्षी उसकी देखरेख करने लगी। शिवगुरु के एक मित्र थे—विष्णु स्वामी। एक दिन उन्होंने कामाक्षी से जाकर कहा—भाभी जी ! भाई श्री शिवगुरु बच्चे में जैसे उच्च संस्कारों का प्रकाश डाल गए हैं, उसकी शिक्षा भी उसी के अनुरूप होनी चाहिए। अलवाई के तट पर आचार्य ब्रह्मस्वामी का गुरुकुल है। वे स्वयं भी बड़े तेजस्वी, विद्वान् हैं और समाज में नैतिक सदाचार की समुन्नति के लिए एकाकी भाव से लगे रहते हैं। इस गुरुकुल में शिक्षा पाए हुए छात्र बड़े मेधावी और प्रतापी निकलते हैं। बालक शंकर को वहीं पर शिक्षा ग्रहण कराने के लिए भेजना चाहिए।

कामाक्षी ने अपना मोह व्यक्त करते हुए कहा—"भैय्या, आपका कहना तो ठीक है, पर मेरे एक ही बच्चा है, इसे यहीं अपने पास रखूँगी। जो थोड़ा-बहुत पढ़ लेगा, वही उसको काफी है। मंदिर है इसी में पुरोहित हो जाना है और मुझे कोई लालसा नहीं। मुझे बच्चे को बड़ा नहीं बनाना। यहीं सुख से रहेगा, वहाँ कौन इसकी देखभाल करेगा ?"

विष्णु स्वामी ने हँसकर कहा—"भाभी जी। यह आप क्या कह रही हैं, आज भैय्या होते तो ऐसा न कहते। वे बच्चे को उच्च गुणों से ओत-प्रोत देखना चाहते थे। इसके लिए गुरुकुल जैसा संस्कारवान् वातावरण ही उपयुक्त हो सकता है। वहाँ नित्य अग्निहोत्र होता है, अक्षर अभ्यास ही नहीं कराया जाता, बल्कि बच्चों में सच्चाई, ईमानदारी, चरित्र, कर्मठता, साहस, श्रम स्वावलंबन आदि महान् गुणों का विकास भी किया जाता है। यदि कुछ कठिनाइयाँ और अभाव वहाँ होंगे तो उनसे भी बच्चों का जीवन निर्माण ही होता है। कठिनाइयों में

बच्चे के विचार करने की और उचित-अनुचित का निष्कर्ष निकालने की क्षमता जाग्रत् होती है, लौकिक परिस्थितियों का ज्ञान विस्तीर्ण होता है, इनका बच्चों के भावी जीवन पर असर पड़ता है। वे यदि गृहस्थ होते हैं तो कुशल गृहस्थ, पुरोहित होते तो तेजस्वी और विद्वान् मार्गद्रष्टा और यदि राज-कर्मचारी हुए तो सच्चाई, ईमानदारी और सेवा-भावना से काम करते हुए प्रजापालन करते हैं। विश्व, समाज और आत्म कल्याण सभी दृष्टियों से इस प्रकार की शिक्षा सार्थक ही होती है। इसलिए आप अपने बच्चे को संकुचित मोह की सीमा में बाँधकर उसका अकल्याण न कीजिए।

बालक ने भी विष्णु स्वामी की ही बात का समर्थन किया—हाँ, माँ ! मुझे तू गुरुकुल भेज। मैं वहाँ खूब मेहनत से पढ़ूँगा और तेरा मुख उज्ज्वल करूँगा।

माँ ने भी अनुभव किया कि, बच्चों को गुणसंपन्न और प्रतिभाशाली बनाने के लिए गुरुकुल ही उचित स्थान है, इसलिए वह भी विष्णु स्वामी के कथन पर सहमत हो गई। विष्णु स्वामी ने बालक को गुरुकुल पहुँचाया। बालक शंकर वहाँ परिश्रम और अनुशासन के साथ विद्याध्ययन करने लगा।

देश की तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक स्थिति—

जिस समय इस देश में जगद्गुरु शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ तब आज से मिलती-जुलती परिस्थितियाँ थीं। जो वैदिक धर्म उच्च गुणों—प्रेम, दया, करुणा, उदारता, तप, त्याग आदि के द्वारा लौकिक जीवन को भव्य बनाने की प्रेरणा देता है और पारलौकिक सुख-स्वर्ग की प्राप्ति के लिए श्रद्धा, विश्वास, आत्म-चिंतन, स्वाध्याय, सत्संग, समाज-सेवा आदि के द्वारा आत्म-विकास और ईश्वर प्राप्ति की शिक्षा देता है, उसी धर्म को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने अनीति, शोषण, भ्रम तथा अनाचार का माध्यम बना डाला। उस समय धर्म के नाम पर वामाचार का बोलबाला था। विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न देवी-देवताओं के तांत्रिक प्रयोग खूब प्रचलित थे और उनके द्वारा लोगों के धन-संपत्ति, शील, सौंदर्य और स्वास्थ्य का मनमाना शोषण किया जाता था।

चरित्र और नैतिकता का बुरी तरह अंत हो चुका था, लोक-लिप्सा, धन-लिप्सा और वासना-लिप्सा से आक्रांत धार्मिक वर्ग ही जब भ्रष्ट हो चुका था तब साधारण प्रजा का तो कहना ही क्या था। राजा और सामंत भी इन्हीं पाखंडों में सहयोगी बने हुए थे। यज्ञों में खूब हिंसाएँ की जाती थीं। उस अधर्माचार पर पर्दा डालने के लिए "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का सूत्र ढूँढ़ निकाला था। इससे समाज का एक वर्ग तो स्वार्थ-साधनों में कर्कशपन से जुटा था और एक वर्ग ऐसा था, जो उसमें बुरी तरह पिस रहा था।

× × × ×

बौद्ध धर्म—इसकी प्रतिक्रिया ही बुद्ध धर्म के रूप में अवतीर्ण हुई। बुद्ध और उनके अनुयायी ध्यान, उपासना आदि तो करते थे, संस्कृत भाषा का अधिक ज्ञान न होने के कारण वे धर्मशास्त्रों का असली रहस्य जानकर इस अनाचार का शास्त्रीय खंडन कर सकने में समर्थ न थे। अतएव जब पंडितों ने हिंसा को 'वैदिकी' बताया और यज्ञों में हिंसा को धर्म बताया तो उन्होंने यज्ञ और वेद दोनों का खंडन करना आरंभ कर दिया। वेद का खंडन करने के साथ-साथ बौद्ध भी शून्य हो गए। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को मानने से ही इनकार कर दिया और बुद्धि तथा विवेक को प्रतिष्ठा दी, जिससे लोग आत्म कल्याण का लक्ष्य पूरा करते रह सकें।

× × ×

भगवान् बुद्ध ने अपने समय में प्रचलित कर्मकांड की बुराइयों को समाप्त करने के लिए वैदिक मान्यताओं—यज्ञ-याग, ईश्वरवाद, हिंसा आदि का विरोध किया था, किंतु उसके शिष्यों ने उसका उलटा ही अर्थ लगाया। कर्मवाद को उन्होंने मिथ्या बताकर गृहस्थ धर्म की मर्यादाएँ तोड़ दीं। बौद्ध विहारों में रहने वाले तरुण भिक्षु और भिक्षुणियाँ आत्म-संयम न रख सके। उन सबने नैतिक जीवन की रीति-नीति को तिलांजलि दे दी। स्वच्छंद विहार उनका प्रमुख धर्म हो गया। बौद्धों का वज्रयान संप्रदाय तो उस समय अश्लीलता का नग्न-नृत्य बन चुका था।

चार्वाक मत—वैदिक धर्म की विकृतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध धर्म का उदय हुआ था, वैसे ही उसकी एक और प्रतिक्रिया—चार्वाक दर्शन के रूप में सामने आई। बौद्धों में उपासना, आत्म-चिंतन, अहिंसा आदि सिद्धांत तो भी थे, इस दूसरे चार्वाक कौल संप्रदाय ने तो इन सबको भी उठाकर ताक में रखकर कहा—संसार में न तो कहीं ईश्वर है न कोई आत्मा। यह शरीर ही सब कुछ है। यही स्वर्ग है और यही स्वर्ग का साधन। जितना बन पड़े सुखोपभोग कर लेना ही मनुष्य का असली कर्तव्य है। चार्वाक का मत था—

यावद्ज्जीवेत् सुखं जीवेत्।
ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।।

"जब तक जियो सुख से जियो। ऋण करके भी यदि घृत पीने को मिले तो कुछ बुरा नहीं।"

इस संप्रदाय का मत था—"न स्वर्ग है न मुक्ति, ब्रह्म है न परलोक-पुनर्जन्म। जो है सब इसी जन्म में है। कंचन और कामिनी का मनमाना उपभोग कर जीवित अवस्था में ही स्वर्गीय सुखों का आनंद करे।" मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन सुखी जीवन के यह 'पंच मकार' ही स्वर्ग सुख के पाथेय बने और इंद्रिय सुखों के इस क्षणिक प्रलोभन ने तरुण-तरुणियों को आकर्षित भी खूब किया। गाँव के गाँव, राज्य के राज्य नास्तिकवाद में दीक्षित होते चले गये। धर्म खिचड़ी बन गया। वैदिक स्वरूप तो पहले ही नष्ट हो चुका था, अब न बौद्ध धर्म ही रहा और न चार्वाक द्वारा प्रचलित कौल धर्म। जो कुछ था अनैतिक, अनाचार, व्यभिचार, पापाचार ही था। वही सर्वत्र देश में व्याप्त हो रहा था।

विषम परिस्थितियों की पहली झलक—गुरुकुल का नियम था कि प्रत्येक बालक को भिक्षार्जन के लिए जाना पड़ता था। बच्चे आस-पास के गाँवों से जो कुछ लाते गुरु-चरणों में चढ़ा देते। गुरु ब्रह्मस्वामी उससे छात्रों के पालन-पोषण की व्यवस्था करते। नियमानुसार बालक शंकर को भी जाना पड़ता। एक दिन शंकर अस्वस्थ थे। भिक्षार्जन के लिए गुरुकुल की सीमा से काफी दूर एक

गाँव में पहुँच गए। ज्वर की तीव्रता से बेहोशी आ गई। शंकर लौट न सके, वहीं एक मंदिर था, उसी में विश्राम के लिए लेटे और सो गए।

प्रहर रात बीते—निद्रा टूटी तो उन्होंने देखा, मंदिर में कोई आयोजन हो रहा है। अनेक तरुण-तरुणियाँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित आमोद-प्रमोद कर रहे हैं। यह सब कौल मत के अनुयायी थे और नियमानुसार प्रतिदिन इसी मंदिर में आकर भोग-विलास किया करते थे। मांस और मदिरा का सेवन खुलकर किया जा रहा था। वेद, उपनिषदों की निंदा करते और उद्धत होकर मंदिरा के नशे में चूर वैवाहिक पवित्रता को भी उतारकर फेंक देते। व्यभिचार का बोलबाला था।

धर्म की यह अवमानना और विकृति देखकर बालक शंकर का हृदय काँप उठा। उसने वहीं प्रतिज्ञा की कि—जब तक देश की इन अनास्थाओं और अंधविश्वासों को समाप्त न कर लूँगा चैन से न बैठूँगा। अपने सुख को राष्ट्र के धर्मोद्धार के लिए तिलांजलि देता हूँ, अपने श्रम और ज्ञान की शक्ति से राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्तियों को करूँगा, भले ही सारा जीवन साधना में लग जाए, घर छोड़ना पड़े, घोर से घोर कष्ट सहने पड़ें। उस दिन रुग्ण शंकर आश्रम में इन्हीं संकल्पों को लेकर लौटा।

शंकर चिंतित थे—कि वह अकेले कैसे इतने विशाल राष्ट्र की प्रसुप्त आध्यात्मिक चेतना को जगा पाएँगे ? उन्हें कौन सहयोग देगा ? किस तरह समाज में व्याप्त बुराइयों का अंत किया जा सकेगा ? कई दिन इस चिंतन के कारण नींद भी नहीं आई। एक दिन उन्हें पुनः भिक्षार्जन के लिए जाना पड़ा। उस दिन वे एक ऐसे दरवाजे पर पहुँचे, जिसकी स्वामिनी बहुत निर्धन थी। उसे कई दिन से पूरा पेट आहार भी न मिला था। शंकर ने उसी दरवाजे भीख के लिए पुकार लगाई।

स्वामिनी ने बच्चे की आवाज सुनी तो उसकी आँखें छलछला आईं। मेरे देश में ऐसे विद्यालय चलते हैं, जो बच्चों में श्रद्धा, विश्वास और उच्च मानवीय संस्कारों को जाग्रत् करते हैं। मैं कितनी

अभागिन हूँ, जो ऐसे समाज-सेवी और प्रजा को प्रकाश देने वालों की सहायता भी नहीं कर सकती। उस दिन खाने के लिए उनके पास एक ही आँवला बचा था। स्त्री का हृदय उमड़ आया। मुझे दान देना चाहिए। नेक कार्य के लिए मुझे देने की जितनी भी सामर्थ्य है, उससे विमुख क्यों होऊँ ? उस स्त्री ने वह आँवला उठाया और गर्व मिश्रित सजल नेत्रों से शंकर की झोली की ओर बढ़ाया। बालक ने आँवले को देखा और अपनी तेजस्वी दृष्टि दाता के आनन पर दौड़ाई तो उन्हें विचार आया कि धर्म के प्रति हमारी आस्था कितनी बलवती है ? लोगों में अभी भी त्याग, सेवा, सहिष्णुता की कितनी महान् भावना विद्यमान है ? संभवतः इसके घर में आज यह आँवला ही शेष रहा होगा तभी तो देवी उसे ही लेकर आई है। बालक ने झोली फैला दी। उसने सादर जननी के पैर छुए और कहा—"माँ जिस देश में तुम्हारी जैसी पवित्र, त्यागमूर्ति नारियाँ हैं, जिस देश में धर्म के प्रति लोगों में इतना उदार भाव है, उसकी धर्म-निष्ठा को काली घटाएँ देर तक छिपाए नहीं रख सकतीं। आज का समय कैसा ही विषम क्यों न हो, भविष्य उसका निश्चित रूप से उज्ज्वल है।"

"कौन साथ देगा और कैसे देश का उद्धार होगा ?" शंकर को इन सवालों का जवाब मिल गया। इन देशवासियों के रक्त-मांस में समाई हुई 'धर्मनिष्ठा' अपने आप समझ आते ही प्रकाशमान् होगी। अब उन्होंने आगे चलने को कदम बढ़ाया।

साधना के लिए प्रस्थान—

माँ से विदा होकर आगे बढ़े, उन्होंने विचार किया कि—सर्वप्रथम मुझे ज्ञान-संचय और आत्म-दर्शन की साधना द्वारा वह शक्ति अर्जित करनी चाहिए, जो लोगों को प्रभावित कर सके और संघर्षों में सहिष्णु एवं धैर्यपूर्वक काम करने की शक्ति देती रहे। इसके लिए किसी योग्य मार्गदर्शक की तलाश करनी चाहिए। आत्म-शक्तियों को प्रबुद्ध किए बिना राष्ट्र की विशाल आध्यात्मिक मान्यताओं को व्यवस्थित करना संभव न होगा।

× × ×

शंकर के घर छोड़ देने का समाचार सारे केरल राज्य में हवा की तरह फैल गया। राज-नरेश राजशेखर को उनकी बौद्धिक प्रतिभा का पता पहले ही चल चुका था। वे स्वयं आकर शंकराचार्य से मिले और उन्हें राज-पंडित नियुक्त करने का प्रस्ताव किया। शंकराचार्य ने प्रलोभन ठुकराते हुए कहा—"राजन् ! संसार में जो बुद्धिमान् लोग हैं, उन्हें अपनी आवश्यकताएँ सीमित करके समाज-सेवा के ब्राह्मण-व्रत का भी पालन करना चाहिए। विद्या, ज्ञान, सदाचार, न्याय, नैतिकता तथा धर्मनिष्ठा से सामाजिक जीवन ओत-प्रोत रहे; स्वार्थ, कलह कुटिलता, कुविचार से लोग बचे रहें, यह उत्तरदायित्व राजा का नहीं, उन व्यक्तियों का है जो प्रबुद्ध हैं। जिन्हें सांसारिक परिस्थितियों और विश्व-वैचित्र्य का यथेष्ट ज्ञान हो, उन्हें समाज का नैतिक मार्ग-दर्शन करना चाहिए। जिन राज्यों में, देशों में, समाजों में यह परंपरा चलती रहती है, राजन् ! उस देश और समाज के लोग परस्पर एक दूसरे की उन्नति करते हुए अपने मनुष्य-जीवन का लक्ष्य पूरा कर लेते हैं।

उन्होंने आगे कहा—"राजन् ! अपने देश की तो सारी प्रगति ही इस व्यवस्था पर ठहरी है। वैश्य का कर्तव्य है कि वह उपार्जन का एक अंश लोक कल्याण के लिए निकालता रहे। जिनके पास धन है, उन्हें उसे अपना ही न मानना चाहिए। जिस समाज से खिंचकर पैसा उनके पास गया है। यदि वह उसकी भलाई में काम नहीं आता तो पैसे वाले बेईमानी करते हैं। शिक्षा संवर्द्धन के लिए पुस्तकालयों, विद्यादान करने वाली पाठशालाओं, मंदिरों, गौ-शालाओं आदि की सुरक्षा और प्रबंध के लिए उनको अपनी आय का एक अंश निकालते रहना चाहिए।"

"क्षत्रिय शारीरिक शक्ति-शौर्य और संगठन से राष्ट्र का बाह्य और आंतरिक आक्रमणों से रक्षा करें। बदमाशों को दंड देना, सत्पुरुषों की रक्षा करना—यह राज कर्तव्य है। राजाओं और क्षत्रियों को दुर्व्यसन, भोग अत्याचार उत्पीड़न से शक्ति प्रदर्शन नहीं, प्रजा पालन और दुष्टों से शक्तिपूर्वक समाज की रक्षा करनी चाहिए।"

किंतु ब्राह्मण का कर्तव्य इन सबसे सर्वोपरि है। वह समाज की आत्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं, सत्परंपराओं को जीवित और जाग्रत् रखता है। भूले, भटके, अज्ञानी, दलित, पथ-भ्रष्ट लोग हैं, उन्हें राह पर लाने और सामान्य लोगों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन ब्राह्मणों का कार्य है। यह कार्य जहाँ होता रहता है, वहाँ के लोग खुशहाल और संपन्न होते हैं। यह सारी जिम्मेदारियाँ तो ब्राह्मणों की होती हैं।

ब्राह्मण निर्लोभ और निष्काम भाव से जब तक इस देश की सेवा करते रहे हैं तब तक देश विद्या, बल, ज्ञान, गुण और धन संपत्ति से पूर्ण सुखी रहा। आज प्रबुद्ध व्यक्ति भी अपने स्वार्थों, विलास सामग्रियों के संचय में, ज्ञान साधन से पथभ्रष्ट हो रहे हैं। राजन् ! उनका प्रमाद सारे देश में देख रहे हैं। मैं सारे देश को अपना घर, अपना कार्यक्षेत्र मानता हूँ। इसलिए आपका प्रस्ताव स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। मुझे अपनी सुविधा की अपेक्षा देश के आध्यात्मिक उत्थान का ज्यादा ध्यान है।

"यही बात है तो आप जिस देवालय में रहना चाहें वहाँ आपके लिए समुचित व्यवस्था करा दूँ अथवा किसी विशेष स्थान पर ही सुविधा हो तो वहाँ आपके निवास आदि का प्रबंध करा दें"—राजा ने अभ्यर्थना की।

श्री शंकराचार्य ने उसी दृढ़ता, किंतु विनीत और अविचलित भाव से कहा—"महाराज आज मेरी सुविधा का सवाल नहीं, मुख्य प्रश्न सारे राष्ट्र की अध्यात्म, सामाजिक व्यवस्थाओं में सुधार का है। सर्वत्र धर्माडंबर, नास्तिकता, अंधविश्वास मूढ़-प्रथाएँ प्रचलित हैं, जन-जीवन गर्हित हो रहा है, मैं एक स्थान पर बैठा नहीं रह सकता। मैं सारे भारतवर्ष को एक सांस्कृतिक सूत्र, एक-सी वैदिक मान्यताओं में बाँधने का रचनात्मक प्रयास करूँगा, उसके लिए मुझे सर्वत्र भ्रमण करना चाहिए, ज्ञान ज्योति की पिपासुओं को तृप्त करना चाहिए।

साधना और विद्याध्ययन—

राजा ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। शंकराचार्य सादर विदा हुए। नर्मदा तट पर स्वामी गोविंद भगवत्पाद का आश्रम था,

वहाँ रहकर और भगवान् भगवत्पाद से दीक्षा लेकर शंकराचार्य ने वेदशास्त्रों का गहन अध्ययन कर अपने ज्ञान को परिपक्व किया। उतनी ही उन्होंने साधना भी की, जिससे उनकी आत्मशक्तियाँ विकसित और प्रखर-प्रकीर्ण हो उठीं।

शिष्यों की श्रद्धा, लगन, तत्परता, अनुशासन और सेवा भावना के अनुरूप ही गुरुजनों का स्नेह-आशीर्वाद मिला करता है। शंकराचार्य ने शिष्य की आध्यात्मिक परंपरा को पूर्ण भावना के साथ निभाया, उसके फलस्वरूप ही गोविंद स्वामी ने भी अपने पास जो कुछ भी तप, ज्ञान और साधना की संचित पूँजी थी, उसे लोक कल्याणार्थ उन पर उड़ेल दिया। उन्होंने शंकराचार्य को अद्वैतवाद का गंभीर अध्ययन कराया। वेदांग के कुछ अंश बाद में उन्होंने गुरुदेव की आज्ञा से काशी में जाकर पढ़े। इस तरह उन्होंने सर्वप्रथम अपने आपको ज्ञान और तप की शक्ति से निष्णात बना लिया। इस साधना ने ही शंकराचार्य को सामान्य-जन से जगद्गुरु की गौरवशाली भूमिका में पहुँचा दिया।

उनका प्रथम प्रवचन अद्वैत और वेदांत पर वाराणसी में हुआ। एक विशाल जन समुदाय को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—"वेदांत विशुद्ध रूप से मनुष्य की आत्मा के आध्यात्मिक उत्थान की प्रशस्ति करता है। वह व्यक्तियों के बीच बिलगाव की नहीं—प्रेम, दया, करुणा, उदारता, तप, त्याग, सेवा, संगठन शक्ति संवर्द्धन और निष्काम भावना से धर्म कर्तव्यों के पालन की शिक्षा देता है। हम लोग क्रियापरक अध्यात्म को भूलकर कामना-मूलक अध्यात्म की ओर खिंच गए हैं। धर्म के नाम पर वर्ग, संप्रदाय और विभिन्न मत खड़े किए गए हैं। हिंदू-जाति के पतन का यही कारण है। आत्म-कल्याण और विश्व के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के लिए हमें उन मानवीय गुणों पर ही लौटना पड़ेगा, जिसमें चींटी से लेकर हाथी तक को अपने अस्तित्व की सुरक्षा का अधिकार है।"

जगद्गुरु शंकराचार्य के भाषण से जनता की श्रद्धा उन पर उमड़ पड़ी। गुरुदेव ने शिष्य को हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दिया—"वत्स ! जाओ, अब तुम सारे देश में वेदांत का प्रचार करो।

देश की वर्तमान दलित परिस्थितियों को विगलित कर नये अध्यात्म का पावन प्रकाश करो।"

आध्यात्मिक अनास्थाओं का उन्मूलन—

उन दिनों यातायात के साधन नहीं थे। केवल बैलगाड़ियाँ ही उसके लिए प्रयुक्त होती थीं। घने जंगलों के बीच चलने वाले यात्रियों के सामने जंगली जानवरों द्वारा मारकर खा जाने का संकट हर घड़ी बना रहता था। कुएँ, विश्रामालय, औषधालयों की भी इतनी सुविधाएँ न थी। दस्युओं तथा तस्करों की कमी न थी। दिन में भी चलते राहगीर लूट लिए जाते थे। इन सब कष्टों के होते हुए भी शंकराचार्य ने वही मार्ग अपनाया, जो महापुरुष अपनाया करते हैं। उन्हें अपने धर्म, कर्तव्य, उत्तरदायित्व एवं पूर्वजों के ज्ञान-गौरव का इतना आत्माभिमान था कि, उन्होंने अनेक संकटों को भी तृणवत् माना। सच तो यह है कि—कठिनाइयाँ ही सच्चे सेवा भावी पुरुषों की कसौटी हैं, जो कष्ट नहीं सह सकता, कठिनाइयों में भी धैर्य और आत्मसंतोषपूर्वक अपने ध्येय में नहीं जुटा रह सकता, वह सच्चा सेवाभावी और आदर्श-प्रेमी नहीं हो सकता। व्यक्तित्व संघर्षों में निखरता है। शंकराचार्य ही तो क्या ; राम, कृष्ण, बुद्ध जैसे अवतारी पुरुष भी कठिनाइयों से अछूते नहीं हो सके। हर धर्म-प्रेमी और समाज-सेवी ने उत्पीड़न सहे हैं, शंकराचार्य उससे कैसे बच पाते ?

उन्होंने अनेक संकट सहते हुए धर्म प्रचार का कार्य शुरू किया। पैदल चलते थे। कभी भोजन ही नसीब नहीं होता था तो कभी दिन-दिन भर प्यासे रह जाते थे। पहाड़ थकाकर चकनाचूर कर देते, पथ की लावा-सी तपती धूप से पैरों में छाले पड़ जाते। भगंदर का फोड़ा था, फिर भी जगद्‌गुरु शंकराचार्य सब सहन करते हुए वेदांत का, धर्म के यथार्थ स्वरूप का प्रसार करते रहे। एक बार तो उन्हें एक ईर्ष्यालु प्रतिद्वंद्वी ने विष दे दिया। कई बार उन पर मर्मांतक प्रहार किए गए, फिर भी वज्रांगी हनूमान् की तरह सारे के सारे आघात दुर्बल शरीर पर सहन करते हुए, वे परिभ्रमण ही करते रहे। गांधार, कंबोज, काश्मीर, तक्षशिला, बंगाल, बिहार, राजगृह,

नालंदा, गया, कामरूप नेपाल, उत्तर गुजरात, काठियावाड़, मध्य-प्रदेश दक्षिण भारत—देश का कोई भी कोना ऐसा न बचा था, जिस जगह उन्होंने शुद्ध अध्यात्म का संदेश न पहुँचाया हो।

संगठन और सांस्कृतिक एकता के प्रयास—

सारे देश का विस्तृत भ्रमण करने के साथ-साथ शंकराचार्य ने सारे प्रांतों की विभिन्न परिस्थितियों का भी गहन अध्ययन किया। उन्होंने अनुभव किया कि—देश में व्यापक स्तर पर फैले धार्मिक भ्रष्टाचार एकाकी प्रयत्नों से दूर किए जाने संभव नहीं हैं। जहाँ भी लोगों ने उनके प्रवचन सुने और धर्म के नए स्वरूप की झाँकी पाई, वहाँ लोगों ने अपनी मनोवृत्तियाँ भी बदलीं, पर प्रतिक्रियावादी तत्त्व भी उग्र हो उठे। कई धर्माचार्यों एवं पाखंडियों ने तो उन्हें मरवा डालने तक के षड्यंत्र किए। शंकराचार्य के प्रस्थान कर जाने के बाद प्रतिक्रियावादी लोग अपना कुचक्र रचते और लोगों को विभ्रमित करते। शंकराचार्य ने अनुभव किया, ऐसा न हो, इस तरह सारे देश में धर्म के प्रति थोड़ी रही-सही आस्थाएँ भी समाप्त हो जाएँ, इसलिए उन्होंने संगठित प्रयत्नों और सामूहिक रचनात्मक कार्यों की तीव्र आवश्यकता अनुभव की। उन्होंने दूसरी बार का भ्रमण संगठन की दृष्टि से किया।

जिस समय वे प्रयाग में थे, एक दिन इन्हीं विचारों में डूबे हुए एक तरफ चले जा रहे थे कि सामने से आ रहे चांडाल ने उन्हें छू लिया। शंकराचार्य ब्राह्मण कुल में जन्मे थे और छुआछूत की परंपरागत परिस्थितियों में पले थे। धर्म प्रचार करने और लोगों के कल्याण की बातें करने पर भी वह पुराने संस्कार क्रियाशील थे। उन्हें अछूत के स्पर्श से बड़ा क्रोध आया। उसे वहीं फटकारने लगे, तो उस चांडाल ने हंसकर कहा—साधु प्रवर, आप तो कहते हैं, वह ब्रह्म ही सर्वभूत-प्राणियों में समाया हुआ है, वह अलग-अलग रूपों में क्रियाशील होने पर भी एक है, उसके गुण, कर्म और स्वभाव में अंतर नहीं आता, फिर भी आप मनुष्य-मनुष्य में भेद करते हैं, छूत-अछूत मानते हैं क्या यही आपका धर्म है ?

शंकराचार्य ने चांडाल की बातों पर ध्यान से विचार किया तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। उन्होंने उससे क्षमा माँगी।

जगद्गुरु को उस दिन व्यावहारिक अद्वैत का बोध हुआ। "मनीषा पंचकम्" इस घटना के बाद ही लिखा, जिसमें उन्होंने ब्रह्म के विराट् स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है और लिखा है—यह विराट् विश्व ही परमात्मा का स्वरूप है। वही संपूर्ण जीवधारियों, वृक्ष, वनस्पति, जल, थल में भावना रूप से विद्यमान है। उसी की चेतना वायु में प्राण बनकर इधर से उधर घूमती है। अग्नि में दाहकता बनकर जलाती है, जल में विद्युत् बनकर प्रकाश और जीवन देती है। अनंतर ग्रह-नक्षत्रों और लोक-लोकांतरों में वही चेतना सर्वत्र व्याप्त, सत् और चेतनशील है। उस निराकार विराट् ब्रह्म का ध्यान करने में मनुष्य की अंतर्वृत्तियाँ विकसित होती हैं और विशाल बनती हैं। उसी ब्रह्म की ज्ञान आराधना करने से मनुष्य के कष्ट दूर होते हैं और जीवन लक्ष्य की पूर्ति होती है।

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्—

प्रयाग भी उस समय नास्तिकता और अत्याचार के अभाव से अछूता न रह पाया था। सेट्टिराज का पुत्र रत्नभद्र भी उसमें फँसकर चारित्रिक दुर्बलता के कारण अपना स्वास्थ्य गँवा बैठा था। असंयमित जीवन ने उसके शरीर का सारा तेज और सत्त्व पी लिया था। निर्बल शरीर कष्टों का घर होता है और दुश्चरित्रता पतन और अशांति का कारण। रत्न-भद्र इन सब बातों से इतना क्षुब्ध हो चुका था कि उसने आत्म-हत्या करने की योजना बना डाली। संयोगवश शंकराचार्य की उससे भेंट हो गई। शंकराचार्य भगवान् ने इसके लिए उसे बहुत धिक्कारा। उन्होंने कहा—यह शरीर आत्मा का वाहन है। पूर्ण आनंद की प्राप्ति के लिए इस शरीर में जीवात्मा का अवतरण हुआ है। जो लोग बुद्धि और विवेक द्वारा इस शरीर की शक्तियों का उपयोग करते हैं; वे लौकिक धर्म, अर्थ और कामनाओं की पूर्ति करते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् यह शरीर ही निवृत्ति का माध्यम भी है। अब तक जो बुराइयाँ हुईं रत्न-भद्र ! उन्हें दूर करो, संयमित जीवन बिताओ, स्वास्थ्य और समर्थता बढ़ाओ।

मनोनिग्रह से यह संभव है। अभी तक विषयों में आसक्त रहे हो, अब मनुष्य जीवन का सदुपयोग करना सीखो। उसमें लिप्त न होकर जिस दिन जीवन को एक कुशल नाट्यकार की तरह खेलोगे, उस दिन तुम्हारे आनंद का पारावार न रहेगा।

शोकग्रस्त रत्नभद्र ने शरीर की उपयोगिता और मनुष्य जीवन का उद्देश्य समझा। उस दिन से वह शंकराचार्य का शिष्य बन गया और अपना शेष जीवन लोक कल्याण में लगाया।

सरस्वती मंदिर का उद्धार—

वेदांत और धर्माचरण का प्रसार करते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य काश्मीर की ओर चल पड़े। उनके प्रशिक्षण का उद्देश्य मनुष्य को हृदय, बुद्धि और आत्मा से सच्चा मनुष्य बनाना था। भक्ति का उन्होंने खंडन नहीं किया, पर उन्होंने कर्म से पलायन करने वाले गृहत्यागी बौद्धों की तीव्र भर्त्सना की। ठीक है, यदि मन की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को वशवर्ती न बनाया जा सके, तो मनुष्य घर ही क्या—जंगल में भी कुकर्म कर सकता है। भिक्षु उसके जीवित प्रमाण थे। वासना, मोह, आचरण, भ्रष्टता के द्वारा मानसिक अशांति के कारण बुद्ध ने गृह-परित्याग किया था; वे इंद्रियजयी थे, पर यह बात उनके शिष्यों में न आ पाई, इसलिए उन्होंने बौद्ध विहारों को घृणित वासनालयों में परिवर्तित कर दिया।

शंकराचार्य ने ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की और कहा कि— "यह ज्ञान ही मनुष्य की जीवात्मा को पवित्र करेगा। भक्ति और कर्म में समन्वय के लिए ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान से बंधन-मुक्ति मिलती है, ज्ञान ही वर्तमान जीवन को क्लेश और कष्टों से बचाने में समर्थ होता है।" वे कहा करते थे, "मनुष्य परमात्मा का ज्येष्ठ पुत्र है, उसको परमात्मा ने विचार, वाणी, ज्ञान, बुद्धि, संकल्प, सुनने, देखने, बातचीत करने के ऐसे सर्वांगपूर्ण साधन दिए, जिनका समुचित सदुपयोग करके मनुष्य अपने आप ब्राह्मी स्थिति तक पहुँच सकता है।"

मनुष्य पाप, कामना और वासना की अनियंत्रित मर्यादा के कारण लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ और मनुष्य-जीवन जैसे ईश्वरीय उपहार को

उसने नारकीय-यंत्रणापूर्ण बना डाला। उसे दुष्कर्मों से ऊपर उठकर अपनी आत्मा का विकास करना चाहिए। अध्यात्म के नाम पर लोगों को परावलंबी नहीं होना चाहिए। अपनी आत्मा का उद्धार आप करना चाहिए।

इस तरह अमृतोपम उपदेशों से जन-जीवन को प्रकाश की नई दिशा देते हुए जगद्गुरु काश्मीर पहुँचे। काश्मीर में भगवती सरस्वती का एक अद्वितीय हस्तकला का प्रतीक विशाल मंदिर था, जिसे प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने, अज्ञानी और प्रमादियों ने बंद करा दिया था।

शंकराचार्य ने लोगों को एकत्रित किया और समझाया कि संसार में ज्ञान पवित्रतम विभूति है। सद्ज्ञान से बढ़कर आत्म-कल्याण का और कोई मार्ग नहीं। सरस्वती के यह दिव्य मंदिर ही भगवान् के सर्वश्रेष्ठ निवास स्थान हैं, जिन्हें बंद करना धर्म की भारी कुसेवा है।

श्रद्धालु जनता उमड़ पड़ी। चिरकाल से दबी पड़ी जन-भावनाएँ उमड़ पड़ीं। पुजारी ने द्वार खोल दिए। मंदिर की साज, सफाई और टूट-फूट की मरम्मत कराने के बाद वहाँ एक विशाल आयोजन रखा गया।

जगद्गुरु के आवाहन पर सैकड़ों नर-नारियों ने दान दिया, पुस्तकें दीं, सामान जुटाए और सरस्वती मंदिर के रूप में एक विशाल पुस्तकालय की प्रतिष्ठा की गई। इस पुस्तकालय में प्राचीन ग्रंथों की दुर्लभ पांडुलिपियाँ भी संग्रहीत थीं, जिनका अध्ययन करने के लिए अनेक देशों के विद्वान् पंडित यहाँ आया करते थे। शंकराचार्य के प्रयत्नों से यह सरस्वती पुस्तकालय नालंदा और तक्षशिला के पुस्तकालयों से भी समुन्नत और विशाल बना। उसमें कई लाख पुस्तकें थीं और प्रतिदिन सैकड़ों लोग उसमें विद्याध्ययन किया करते थे।

सहयोगियों की तलाश—

जगद्गुरु बद्रिकाश्रम में बैठे विचार कर रहे थे कि, एक अध्यात्मवादी व्यक्ति की शक्ति बहुत बड़ी होती है, पर आज सारे

देश में अज्ञानांधकार इतना व्यापक हो उठा है कि, उसे एकाकी प्रयत्नों से समेटना कभी संभव नहीं। राम को भी हनूमान् और सुग्रीव की सेना का सहारा लेना पड़ा था। कृष्ण के भाई बलराम प्रत्येक युद्ध में उनके साथ रहे थे। बुद्ध ने अनेक शिष्यों का सहयोग लिया था। योग्य, समर्थ और प्रभावशाली व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। उन दिनों महिष्मती के आचार्य मंडन मिश्र सारे उत्तरी भारत में विद्वत्ता के लिए सुविख्यात थे। शंकराचार्य उन्हें प्रभावित कर अपना सहचर बनाने के लिए उधर ही चल पड़े।

आचार्य प्रवर ने शंकराचार्य का स्वागत किया और उसके बाद आने का कारण पूछा। शंकराचार्य ने कहा—आचार्यवर, आज देश की जैसी स्थिति है, हम आप सब देख रहे हैं। मैं अपना संपूर्ण जीवन राष्ट्र जननी की सेवा में समर्पित कर दिया है, तथापि अंधकार इतना प्रगाढ़ है कि अनेक प्रकाशमान्, प्रखर, प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है और यह योग्यता मुझे आप में दिखाई दे रही है।

ब्राह्मण श्रेष्ठ ! हम ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि समाज को सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित रखना। इसलिए हमें आत्म-कल्याण तक ही सीमित न रहकर संपूर्ण पीड़ित मानवता की सेवा के लिए उत्सर्ग करना चाहिए। यह सारा समाज ही परमात्मा है, उसकी निष्काम सेवा से क्या आत्म-कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं कर सकते ?

मंडन मिश्र ने कहा—"आप ठीक कहते हैं, महामहिम आचार्य ! किंतु परमात्मा ने यहाँ सबको अलग-अलग पैदा किया है। मनुष्य का उत्तरदायित्व अपने आप तक सीमित है। दूसरों के झगड़ों में कौन पड़े ? जो जैसा करता है वैसा भरता है, इसमें हम और आप क्या कर सकते हैं ?"

"समाज सेवा ही परमात्मा की सेवा है"—यह गुरु शंकराचार्य का कथन था। विराट् ब्रह्मांड ही परमात्मा है, प्रत्यक्ष की उपासना उपयोगी ही नहीं अनिवार्य भी है, और मंडन मिश्र का तर्क यह था कि—"व्यक्ति दूसरे के कल्याण का जवाबदार नहीं।" इसी विषय पर उनमें काफी देर तक विवाद होता रहा। आखिर मध्यस्थता

कराने का दोनों ने निश्चय किया। निर्णय के लिए मंडन मिश्र की विदुषी धर्मपत्नी देवी भारती चुनी गई।

विशाल जन-समुदाय, राज्य कर्मचारी और विद्वान् व्यक्तियों की भरी सभा में मंडन मिश्र और शंकराचार्य में विचार-विनिमय प्रारंभ हुआ। यह कोई शास्त्रार्थ नहीं था। केवल शर्त यह थी कि— यदि मंडन मिश्र शंकराचार्य के विचारों से सहमत हो जाते हैं, तो वे उनका अनुचरत्व स्वीकार कर लेंगे और उन्हीं की तरह अपना जीवन-क्रम बना लेंगे।

विचार-विमर्श कई दिन तक चला। अंत में देवी भारती ने शंकराचार्य के पक्ष का समर्थन कर उन्हें विजयी घोषित कर दिया। उन्होंने स्वयं भी अपने देश के लिए आत्म त्याग किया और अपना शेष जीवन देश में व्याप्त बुराइयों के उन्मूलन और वेदांत के प्रचार में लगाया।

चार पीठों की स्थापना—

मंडन मिश्र शंकराचार्य के सच्चे शिष्य और अनुयायी बन गए। एक दिन दोनों ने मिलकर मंत्रणा की कि—सारे देश को उत्तर से दक्षिण तक एक सांस्कृतिक सूत्र में कैसे बाँधा जा सकता है ? सबसे बड़ी बाधा यह थी कि उत्तर के निवासी दक्षिण के निवासियों के संपर्क में न आ पाते थे और दक्षिण के निवासी उत्तरी लोगों के विचार संपर्क से वंचित रह जाते थे। शासन तंत्र भी अनेक मतों में विभक्त थे, यातायात के साधन थे नहीं। ऐसी अवस्था में भारतवर्ष को एक संस्कृति के धागे में किस तरह बाँधा जा सकता है ? यह प्रश्न वस्तुतः बड़ा गंभीर था।

मंडन मिश्र ने, जिनका नाम अब सर्वेश्वराचार्य हो गया था, अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा—"गुरुदेव ! उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम को एक धागे में बाँधने के लिए चार धर्म-पीठों की स्थापना करनी चाहिए। समस्त भारतीय जनता को इस बात के लिए प्रेरित किया जाए कि वे धर्म और आत्मकल्याण की भावना से इनका तीर्थाटन किया करें। इस तरह ये लोग प्रांतीयता के भेद-भाव से ऊपर उठकर परस्पर मिलेंगे-जुलेंगे और इन तीर्थ-स्थानों के मिलने

वाली साधना ज्ञान और धर्मनिष्ठा की प्रेरणा उनके व्यक्तिगत जीवनों का भी सुधार करेगी, आत्म-कल्याण का उद्‌देश्य भी पूरा होगा। इस प्रकार देश संगठित बना रहेगा और लोगों में भ्रातृ-भाव मजबूत होता रहेगा।"

शंकराचार्य इस विचार से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने इसी उद्‌देश्य से घोषणा की कि, जो लोग बद्रिकाश्रम से जल लेकर रामेश्वरम् में चढ़ाया करेंगे, वे मुक्ति के अधिकारी हुआ करेंगे। इस भावना के पीछे सांस्कृतिक एकता के प्रयत्न और संकल्प-पूर्ति की भावना का विस्तार छुपा था, जो आज तक यथावत् चलता आ रहा है और उत्तर-दक्षिण में एक धार्मिक मेखला का काम कर रहा है। पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारका के समीप भी शंकर मठ है। यह चारों धाम आज भी धार्मिक जनता के लिए श्रद्धा केंद्र और राष्ट्रीय संगठन की आधारशिला बने हुए हैं।

बड़े कार्यों के लिए बड़े प्रयत्न—

कंस की दुष्प्रवृत्तियों का नाश करने के लिए भगवान् कृष्ण ने अक्रूर का सहयोग लिया था। धर्म के नाम पर फैले अनाचार को रोकने के लिए बौद्ध धर्म खड़ा हुआ, तो उसके पाँव महाराज अशोक ने मजबूत किए। यवन आक्रमणकारियों से भारतीय संस्कृति की रक्षा की समस्या आई तब समर्थ गुरु रामदास को छत्रपति शिवाजी ने साथ दिया। महाराणा प्रताप देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर करके भी जब स्वतंत्रता की रक्षा न कर सके तब भामाशाह ने उन्हें धन, जन और आजादी की प्रेरणा दी। महान् कार्यों के लिए महान् प्रयत्नों और सहयोगों की सदैव आवश्यकता हुई है।

जगद्‌गुरु शंकराचार्य द्वारा चार मठों की स्थापना और वैदिक धर्म के प्रसार के लिए ब्रह्म विद्यालय, गुरुकुल, ज्ञान-दीक्षा के पुस्तकालय, साहित्य-सृजन और ज्योति-पीठों की स्थापना यह ऐसे बड़े काम थे, जो स्वयं उनकी आध्यात्मिक शक्ति से भी परे थे। उधर प्रतिक्रियावादियों के आघात भी हो रहे थे, वैदिक धर्म को गिराने का भी पूरा प्रयत्न किया जा रहा था। ऐसे समय में एक बार

तो शंकराचार्य भी निराश हो उठे कि, यह आवश्यकताएँ कैसे संपन्न होंगी ? देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की यह योजनाएँ कैसे पूरी होंगी ?

भगवान् शंकराचार्य का महान् कार्य फिर भला अधूरा कैसे रहता ? उन महापुरुष के संकल्पों की पूर्ति के लिए दक्षिण के महाराज 'मांधाता' भामाशाह की तरह आगे आए। उन्होंने जगद्गुरु शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया और धर्म के लिए अपना राज्यकोष, जनबल और निजी व्यक्तित्त्व सब कुछ उनके चरणों में सौंप दिया। फिर क्या था, रुके हुए काम चल पड़े। जगद्गुरु के आध्यात्मिक तथा रचनात्मक कार्यक्रम सभी योजनाबद्ध रूप से बड़ी सफलतापूर्वक चलने लगे। शंकराचार्य के प्रचार अभियान में मांधाता की सेवा बहुत सहायक सिद्ध हुई। सुरक्षा के लिए सेना, यात्रा के लिए धन, रचनात्मक कार्यों के लिए कुशल विशेषज्ञ मिल जाने से सारी व्यवस्था सरल बन गई। जो कार्य वर्षों की प्रतीक्षा के बाद संपन्न हो सकता था, वह इन साधनों के जुट जाने से बहुत सरल हो गया। राजा मांधाता की इस उदारता ने जगद्गुरु के महान् कार्य न चार चाँद लगा दिए और वह पुण्य सहयोगी अपनी इस उदारता के कारण यशःशरीर से अमर हो गया। भारतीय संस्कृति शंकराचार्य की तरह ही उदारमना मांधाता की भी चिर कृतज्ञ रहेगी।

साहित्य सृजन—

स्थूल निर्माणों की अपेक्षा विचार निर्माण का महत्त्व असंख्य गुना अधिक है। जनता का उच्चस्तरीय आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक और आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों का मार्गदर्शन वेद-उपनिषदों में है, किंतु उनकी भाषा और व्याकरण काफी कठिन, गूढ़, रहस्यपूर्ण और जटिल भी हैं। कुछ अंश तो ऐसे हैं जो साधना की उच्च स्थिति तक पहुँचे बिना, जाने तक नहीं जा सकते। इन कार्यों के लिए ही कभी-कभी आत्मा को कठोर तप करना पड़ जाता है। ऐसी महान् आत्माएँ इस धरती पर सदैव जन्म लेती रही हैं, लेती रहेंगी।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने शास्त्र का अवगाहन किया, पर उसे लोकोपयोगी बनाना उससे भी अधिक आवश्यक था। धर्म जब तक सही अर्थों में लोक व्यवहार में नहीं उतर आता तब तक भ्रमवादी प्रपंचियों के षड्यंत्र सफल होते रहते हैं। इसलिए उन्होंने धर्म को सरल बनाकर उसे लोक-व्यवहार में उतारने की आवश्यकता अनुभव की।

इसके लिए उन्होंने कठिन ग्रंथों की सरल भाषा में टीकाएँ लिखनी शुरू कीं। इन ग्रंथों में ब्रह्मसूत्र भाष्य, ईश, केन, कठ आदि १२ उपनिषदों के प्रामाणिक भाष्य, गीताभाष्य, विवेक चूड़ामणि, प्रबोध सुधाकर, सर्व वेदांत सिद्धांत संग्रह आदि प्रमुख हैं। शंकराचार्य ने साधना, ज्ञान-संचय के लिए स्वाध्याय एवं संगठन के कार्यों को पूरा किया। आजीवन भ्रमण करते रहे, फिर भी इतने सारे ग्रंथों की रचना की। यह सब उनके व्यवस्थित जीवन-क्रम, दिनचर्या और एक-एक क्षण के सदुपयोग से संभव हुआ। उन्होंने अपना एक भी मिनट व्यर्थ नहीं गँवाया। यह तो आध्यात्मिक उन्नति की बात है। आर्थिक और औद्योगिक सफलताओं के लिए भी समय का सदुपयोग बहुत आवश्यक है। महान् संकल्पों की पूर्ति के साथ व्यवस्थित जीवन और एक-एक क्षण का उपयोग सदैव आवश्यक है।

शंकराचार्य के भाष्य पढ़कर आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों और शिक्षाओं को सरलता से आज भी हृदयंगम किया जा सकता है।

"पंचदशी" में आपने वेदांत के ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया है, वह बड़ा ही प्रामाणिक, पठनीय एवं हृदयंगम करने योग्य है। उन्होंने यह साबित किया है कि, व्यक्ति अपने आप में इतना समर्थ है कि वह अपनी इच्छानुसार कोई भी सफलता प्राप्त कर सकता है। सुख और दुःख के कारण भी व्यक्ति के संकल्प हैं, अपने आपकी आत्मिक शक्ति का उद्‌बोधन कर व्यक्ति इतना समर्थ बन सकता है कि वह सामर्थ्य सामान्य लोगों के लिए चमत्कार जैसी प्रतीत होने लगे। मनोनिग्रह के द्वारा अष्ट सिद्धियों, नव निद्धियों की प्राप्ति, दूर दर्शन,

दूर श्रवण यह सब आत्म-संकल्प और मनोनिग्रह के ही चमत्कार हैं। वेदांत के चार सूत्र—

१—सोऽहम।
२—तत्त्वमसि।
३—अयमात्मा ब्रह्म।
४—ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म।

इनकी भाषा टीका कर आपने अध्यात्म का प्रकाश सर्व सुलभ बना ही दिया। उन्होंने बताया—वह मैं हूँ। मैं तत्त्व रूप हूँ, यह आत्मा ही ब्रह्म है। उसे प्राप्त करने के लिए किसी के आश्रय, बाह्याडंबर की आवश्यकता नहीं। मनुष्य को अपने अंतःकरण में ही प्रकाश स्वरूप परमात्मा की तलाश करनी चाहिए। व्यक्ति जितना आत्म शक्तियों का चिंतन, अध्ययन और विश्लेषण करता चलता जायेगा, उसकी आत्म-शक्तियाँ और बौद्धिक प्रतिभायें उतना ही विकसित होती चली जाएँगी।

शरीर तो वाहन मात्र है। इंद्रियाँ मनुष्य के आत्मविकास की सहयोगिनी हैं। शरीर और इंद्रियों को ही "अहं" न मानकर भीतर जो अदृश्य चेतना भरी हुई है, लोग उस पर ध्यान केंद्रित किया करें, उन आध्यात्मिक गुणों यथा प्रेम, दया, करुणा, उदारता, क्षमा, सहिष्णुता, सर्वात्मीयता आदि जो आत्मा को संतोष, सुख, पुलक, प्रफुल्लता और शांति प्रदान करते हैं, का विकास करने का प्रयत्न किया करें तो इसी जीवन में मनुष्य शरीर धारण करने का उद्देश्य और परमानंद की प्राप्ति की जा सकती है।

३२ वर्ष की आयु में ही उन्होंने इतने सारे कार्य पूर्ण कर लिए। वे हमें इस बात की शिक्षा दे गए कि, महान् कार्यों के लिए कोई आयु निर्धारित नहीं। वृद्धावस्था में ही आत्म-कल्याण और ज्ञान-संचय की साधना करनी चाहिए—यह गलत है। मनुष्य अपने आप में इतना सर्व समर्थ है कि, वह अल्पायु में ही महान् संकल्पों की पूर्ति कर सकता है।

धर्म-पथ पर अडिग शंकराचार्य—

समाज सेवा के लिए गृह-परित्याग करते समय शंकराचार्य ने अपनी माँ को वचन दिया था कि, वह उनका अंतिम दाह-संस्कार अपने ही हाथों से करेंगे। इन दिनों वे दक्षिण में ही थे, उनको पता चला कि माँ बीमार है, तो वे कालड़ी की ओर अकेले ही चल पड़े। माँ बेटे की प्रतीक्षा में ही थी। शंकराचार्य ने वहाँ पहुँचकर माँ को शीश झुकाया। पुत्र-दर्शन से तृप्त हुई माँ ने आशीर्वाद दिया—"शंकर, तूने धर्म-सेवा का महा-व्रत निभाकर मेरी कोख पवित्र कर दी। जब तक मेरा नाम रहेगा तब तक इस देश के बड़े, बूढ़े, नवयुवक सबकी धर्म में आस्था बनी रहेगी। धर्म और संस्कृति के लिए तब तक आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा मिलती रहेगी।"

माँ ने नश्वर संसार से संबंध तोड़ लिया। शंकराचार्य ने परिवार वालों को बुलाया और दाह-संस्कार में सहयोग देने की प्रार्थना की। कुटुंबियों ने कहा—"संन्यासी को दाह का संस्कार करने का अधिकार नहीं। आप यह कार्य न करें, अन्यथा हम सहयोग न देंगे।"

शंकराचार्य ने कहा—"कर्मकांड और तत्संबंधी विधि-विधान केवल मानवीय सुविधा सुव्यवस्था के लिए बनाए गए हैं। संन्यासी प्रायः परिव्राजक रहते हैं, इसलिए उन्हें अपने कुटुंबियों के संस्कार आदि करने की सुविधा नहीं रहती। इसी से इस प्रकार की व्यवस्था बनाई गई कि संन्यासी पारिवारिक-कार्यों से मुक्त रहें, पर यह केवल लोकाचार मात्र है। भावना उनसे ऊपर है। मेरी माता की आकांक्षा थी कि, मैं ही उसका अग्नि संस्कार करूँ। मैंने वचन भी दिया था। माता की आज्ञा तथा आकांक्षा का मैं उल्लंघन नहीं कर सकता। रीति-रिवाजों की व्यवस्था, भावनात्मक आदर्शों से ऊँची नहीं हो सकती और न उसे इस तरह के प्रसंगों में बाधक ही बनने दिया जा सकता है। मैं अग्नि संस्कार अपने वचनानुसार स्वयं ही करूँगा।"

कुटुंबियों के सहयोग न देने पर अपनी माँ के शव को कंधे पर उठाकर श्मशान तक ले जाना, उन अकेले के लिए कठिन था।

उन्होंने घर के दरवाजे पर ही माँ की चिता जलाई और पाँच तत्त्वों में बने शरीर को उसमें रखकर वहीं जला दिया। उनकी निष्ठा का ही प्रभाव और प्रतिफल बाद में परंपरा बनी और आज तक केरल के नंबूदरीपाद ब्राह्मण अपने मृतकों की चिताएँ दरवाजे पर ही जलाते हैं। महापुरुष जिस कार्य को हाथ में लेते हैं, वे ही कालांतर में परंपरा बन जाती हैं।

युग-निर्माता शंकराचार्य ने सत्य, अहिंसा, उच्च विचारों और मानवीय मूल्यों को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर विरोधियों पर विजय प्राप्त की। शांति, एकता तथा सच्चे ज्ञान का साम्राज्य स्थापित किया। विघटनकारी प्रवृत्तियों से सतत् संघर्ष करने की उन्होंने प्रेरणा दी। समाज सेवा का आदर्श स्थापित किया। कठोर से कठोर कष्ट सहकर भी उन्होंने हिंदू धर्म को नवजीवन दिया। आज उनके कदमों पर चलने का समय आ गया है। उनका अध्यात्म वैदिक-अध्यात्म था, आज उसमें विघटन उत्पन्न हो रहा है, उन अनास्थाओं को, सामाजिक बुराइयों के धार्मिक आडंबरों को, रूढ़िवादी मान्यताओं को, अधार्मिक परंपराओं को मिटाकर धार्मिक संस्कारों के प्रत्यावर्तन द्वारा ही उन महापुरुषों के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त कर सकते हैं।

संघर्षों के बीच अनवरत् धर्म-सेवा—

तत्कालीन पौंड्र, चौल, द्रविड़ आदि देशों में धर्म के सनातन तत्त्वों—प्रेम, स्नेह, आदर, संगठन शक्ति, ईश-उपासना, सात्त्विक-जीवन, लोक-सेवा और आत्म-कल्याण का पाठ पढ़ाते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य विदर्भ (बरार) पहुँचे। अत्यधिक श्रम और संघर्ष के कारण थकावट बढ़ती जाती थी। मन विश्राम पाने को उत्कंठित होता था, पर आत्मा कहती थी कि—देश सांस्कृतिक संपत्ति, धार्मिक सेवा और अपने पूर्वजों के आदर्शों का महत्त्व शरीर की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक है। जो शरीर अपने ही भोग, उदरपूर्ति और स्वार्थ वासना में डूबा रहे, वैसा तो सारा संसार ही है। साधना-शक्ति, आत्मिक शक्तियों के अर्जन का उद्देश्य ही क्या हल हुआ, यदि वे धर्म, देश और जाति के उद्धार के काम न आईं।

यह प्रेरणाएँ आचार्य के अंतर्मन में सदैव प्रबल हिलोरें मारा करतीं थीं। तभी कठिन संघर्षों में भी धर्म की सेवा का महान् लक्ष्य पूरा कर सके।

यह कठिनाइयाँ अंतिम समय में तो असाधारण बनकर आईं। वे उन दिनों कर्नाटक में थे। सुधन्वा वहाँ के राजा थे। सुधन्वा विद्वान् थे, विचारवान् थे, उन्होंने वैदिक धर्म की शिक्षाओं को विवेक की कसौटी पर कसके देखा था, अतएव उनकी उपयोगिता भी अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने आचार्य को संरक्षण प्रदान किया और उनको हर संभव सहयोग पहुँचाने का भी प्रयास किया था।

किंतु कर्नाटक उस समय कापालिकों का गढ़ था। उनका महंत कुचक्र नामक महाभयंकर व्यक्ति था। यह भैरव का उपासक ही न था, वरन् तांत्रिक उपासनाओं का उसने सर्वत्र जाल फैला रखा था। उसके सैकड़ों शिष्य थे। वे जब शराब पीकर आवेश धारण करते तो साक्षात् भैरव जैसे प्रचंड दिखाई देते। जनता, उनसे बहुत घबराई हुई थी। ऐसे समय शंकराचार्य का वहाँ पर पहुँचना ऐसा ही था जैसे ग्रीष्म से तपे लोग वर्षा-ऋतु का स्वागत करते हैं। लोग तंत्र की अनिष्टकारी साधना पद्धति और कापालिकों द्वारा प्रसारित दुर्गुणों को छोड़ने लगे और शुद्ध सरल और सात्त्विक जीवन की ओर आकृष्ट होने लगे। सच्चाई में यही तो शक्ति है कि वह विरोधियों को परास्त होने को भी विवश कर देती है। सैकड़ों कापालिक भी वह धर्म छोड़कर शंकराचार्य के शिष्य बन गए।

इस पर कुचक्र घबराया, उसने शंकराचार्य के पास जाकर उनका अपशब्दों से बड़ा अपमान किया, गालियाँ दीं और वहाँ से भाग जाने की धमकी दी। पारमार्थिक लक्ष्य ऐसे कमजोर नहीं होते कि वे दुष्टता से डरकर बैठ जाया करे। दुष्टता से लड़ने की वास्तविक शक्ति है ही अध्यात्म के पास। शंकराचार्य ने उसके विरोध की कोई परवाह नहीं की और अपने मत का प्रसार निष्ठापूर्वक करते रहे। इस पर कापालिक ने उन्हें तांत्रिक अभिचार द्वारा मार डालने की धमकी दी। उसने बहुत-से दुष्ट शिष्यों को शराब पिलाकर शंकराचार्य को मारने भेजा, पर राजा सुधन्वा की

सेना ने उनकी रक्षा की। अंततः बहुत-से कापालिक मारे गए और स्वयं उनका सरदार भी परास्त होकर भाग गया।

इस तरह कामरूप, कौशल, चंपारण आदि स्थानों पर प्रचार करते हुए शंकराचार्य गंगा किनारे पहुँचे और कुछ दिन वहाँ पर विश्राम करके नई शक्ति अर्जित की।

युग बदलते नहीं, बदले जाते हैं—

एक समय था जब सारा देश बौद्ध धर्म के विभ्रांत-साधनों, तंत्र और मंत्र, चार्वाक के भोगवाद से बुरी तरह झुलस रहा था। सच्चाई, प्रेम, ईमानदारी, नैतिकता, आदर्श, कुटुंब, परंपरा; आस्तिकता आदि व्यक्तिगत और सामाजिक निष्ठाओं का लगभग वैसा ही लोप हो चुका था जैसा आज देखने में आता है। जब मनुष्य **की आकांक्षाएँ और वासनाएँ अनियंत्रित** हो जाती हैं, तो मनुष्य में **स्वार्थवादी, कुटिलतापूर्ण कुविचार जन्म** लेते, कुकर्म होते हैं और **सारा समाज नरक की विभीषिका में** जलने लगता है। जगद्गुरु **शंकराचार्य का जन्म इसी संक्रांति काल** में हुआ था।

वैदिक-धर्म के प्रति आस्थाएँ जीवित थीं, पर वह नाम मात्र **को बिखरी हुई थीं। प्रेम आत्मीयता** के संबंध छूट रहे थे, **आस्तिकता आखिरी दम तोड़ रही थी**, उसे पुनर्जीवन देने के लिए **महौषधि की आवश्यकता** थी। ऐसे लोगों की आवश्यकता थी, जो **धर्म और संस्कृति के आदर्शों** की स्थापना के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का परित्याग कर एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं और उस पथ पर जितनी बाधाएँ आती हैं उन्हें वे सच्चे योद्धा की तरह सहन करते रहते हैं। उन लोगों को संगठित कर शक्ति देना एक बड़ा काम था, जिसे शंकराचार्य ने एक व्रत की तरह आजीवन निबाहा।

उन्होंने अपने आपको तपाया, विपरीत परिस्थितियों में जीवन जीने का अभ्यास किया, जिससे उनके मन के लौकिक आकर्षण नष्ट हुए और अध्यात्म का विशुद्ध स्वरूप जिसे मोक्ष या मुक्ति भी कहा जा सकता है, साफ निखर आया। पर उससे भी बड़ा काम यह हुआ कि जो थोड़ी बिखरी हुई लोक-निर्माणकारी शक्तियाँ थीं, उन्हें

बल मिला। ऐसे लोगों की आत्म शक्तियाँ भी जाग्रत् हुईं, जिससे कमजोर दिखाई देने वाले सत्प्रवृत्ति वाले लोग सशक्त और बलवान् जान पड़ने लगे। इससे बुराइयों के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा स्थापित हुआ। जब-जब विचारवान् व्यक्तियों ने ऐसे संगठन किए हैं। संसार को नव-जीवन मिला है और युगों का प्रत्यावर्तन हुआ है।

शैल पर्वत से उतरकर आचार्य जी ने अपना संपूर्ण समय संसार को प्रवचन और साहित्य के माध्यम से प्रौढ़ विचार देने और संगठन सजीव करने में लगाया था। गोकर्ण, हरीशंकर और श्रीवलि आदि स्थानों से उन्होंने कुछ संस्कारवान् व्यक्तियों को ढूँढ़ा और उन्हें अपने समीप रखकर आध्यात्मिक जीवन के साँचे में ढालकर उन्हें लोक-शिक्षण के लिए नेतृत्व की क्षमता प्रदान की।

हस्तामलक, गिरि, पद्मपाद, मंडन मिश्र (सुरेश्वर), तोटकाचार्य, समित्पाणि, चिद्विलास, ज्ञानचंद, विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमारीचि, कृष्ण दर्शन, बुद्धि विरंचि, पादशुद्धांत, आनंदगिरि आदि अनेक प्रबुद्ध और विचारशील व्यक्तियों को एकत्रित किया। इनमें से कई अल्प-क्षमता वाले भी थे, पर जब वे आचार्य जी के संपर्क में आए और उन्होंने आत्म-साधना द्वारा अपनी सुप्त शक्तियों को जगाया, तो वही छोटे व्यक्ति बड़े काम के बन गए। इन्हीं से योगी, ज्ञानी, भक्त, संत और विद्वान् निकल पड़े, जिन्होंने शंकराचार्य के वैदिक धर्म और अद्वैत विचारों को देश-देशांतरों तक पहुँचाया। इन शिष्यों ने बाद में कई मार्गदर्शक ग्रंथ भी लिखे, जिनमें से नैष्कर्म्य-सिद्धि, सुरेश्वर-वैशिक, तैत्तिरीय-उपनिषद् भाष्य और कण्व शाखा के उपनिषद् पर वार्तिक बहुत प्रसिद्ध हुए।

इन व्यक्तियों का आत्म-दान भी कम प्रशंसनीय न था। जब सारा संसार स्वार्थ, लोभ, मोह और कामनाओं की पूर्ति में ही आकंठ डूबा हो और समाज की पतन अवस्था तेजी से बढ़ रही हो तब अपने स्वार्थ और आत्म कल्याण का परित्याग कर लोक-सेवा, जन-मार्गदर्शन के लिए तत्पर होने का पुण्य किन्हीं जाग्रत् आत्माओं द्वारा ही हो सकता है। ये आत्माएँ ऐसी ही थीं। जब-जब ऐसी

उत्कृष्ट अंतःकरण वाली आत्माओं का अवतरण होता है, धर्म, जाति और संस्कृति को नवजीवन मिलता है।

इन लोगों के त्याग, तप और निष्ठाओं को देखकर राजाओं, सामंतों और साधन संपन्न व्यक्तियों की आत्माओं ने भी उन्हें कचोटा, वे भी आगे आए और इस तरह जगद्गुरु शंकराचार्य के साथ सुधार और सत्प्रवृत्तियों का बादल उमड़ पड़ा। उसने समाज के कुसंस्कारों को मल-मलकर धोया। कहीं संघर्ष हुए, कहीं विध्वंस, बैर और विरोध भी खूब डटकर हुए, पर आखिर प्रकाश, प्रकाश है और अंधेरा, अंधेरा ही। धर्म सनातन सत्य है। ईमानदारी, प्रेम, सद्भाव, सद्व्यवहार आत्मा की स्वाभाविक और सनातन आकांक्षाएँ हैं। दुर्जन लोग इन्हें थोड़े दिन तक ही दबाये रह सकते हैं। सच्चे अध्यात्म का प्रकाश जहाँ फैलने लगता है, वहाँ अंधकार देर तक नहीं टिक पाता।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने धार्मिक पुनरुत्थान का जो व्रत लिया था, वे आजीवन उसी के लिए सोचते-विचारते और काम करते रहे। अंतिम समय उन्होंने इस मिशन का भार कुछ ऐसे ही निष्ठावान् व्यक्तियों के हाथ सौंपने का निश्चय किया। किंतु जिन दिनों वे इसकी योजना बना रहे थे, उन्होंने देखा कि सभी शिष्यों में अपने आपका प्रभुत्व, विद्वत्ता व्यक्त करने की लोकैषणा तेजी पकड़ रही है। संसार में अभिमान बड़ा कठिन और पतनकारी गुण है। वह जब मस्तिष्क में आता है तो लोक-सेवा का उद्देश्य भी स्वार्थ और प्रवंचना का घर बन जाता है। पद्मपाद, गिरि आदि शिष्यों में इस तरह के प्राथमिक अंकुर निकलते जगद्गुरु ने पूर्व में ही देख लिए, इसलिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्यों का भार उन लोगों को दिया, जिनमें विद्वत्ता की ठेस की अपेक्षा भावुकता और कर्तव्यनिष्ठा का भाव अधिक था। इससे दूसरे शिष्यों ने भी अनुभव किया कि अहंकार और लोकैषणा का भाव न केवल जन-नेतृत्व के लिए विषवत् है वरन् उससे अपना आपा भी दलित होता है। इस तरह सँभले हुए शिष्यों ने जब पूरी तरह मिशन को फैलाते रहने का भार अपने कंधों पर उठा लिया—तब जगद्गुरु शंकराचार्य को बहुत संतोष हुआ।

शिष्यों को कई बार ऐसे भी अवसर आए जब उन्हें उनके सगे संबंधियों ने ही धोखा दिया। पद्मपाद जब दक्षिण की यात्रा कर रहे थे तो वे एक दिन अपने मामा के यहाँ ठहरे। उनके पास शंकराचार्य के महत्त्वपूर्ण भाष्यों की पांडुलिपियाँ थीं। मामा बौद्ध मत को मानता था, इसलिए उसने उन ग्रंथों को नष्ट करने का कुचक्र रचा। मामा ने वह ग्रंथ अपने यहाँ ही छोड़ जाने का आग्रह किया, जिससे वे यात्रा में बोझ न बनें और एक दिन उसने अपने घर में आग लगाकर इन ग्रंथों का सर्वनाश कर ही डाला। यह तो भला था कि उसके अध्याय शिष्यों को रटे हुए थे, उससे उन्होंने उन ग्रंथों को फिर से तैयार कर लिया, पर इससे उन्हें एक शिक्षा मिली कि महत्त्वपूर्ण कार्यों में संलग्न होते समय सावधानी और सतर्कता न रखी जाए तो धूर्त लोग कभी भी अनिष्ट कर सकते हैं। धर्म प्रवेश में निष्ठा की परीक्षा और कष्टमय जीवन का उद्देश्य भी यही होता है कि, व्यक्ति के अंतःकरण में बैठा हुआ दुष्प्रवृत्ति वाला नाग कहीं क्रियाशील न हो पड़े।

इस तरह भगवान् शंकराचार्य ने आजीवन परिश्रम और तपकर युग को एक नई उषा प्रदान की, जिसे बाद में सारे देश में प्रकाश की तरह फैलाया गया। जगद्गुरु इसीलिए वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक कहे जाते हैं। उन्होंने इस युग की मान्यताओं को ही बदलकर रख दिया था और सारे विश्व को यह दिखा दिया था कि, धर्म की शक्ति, ज्ञान, प्रज्ञा, निष्ठा और संगठन की शक्ति इतनी बलवान् होती है कि वह थोड़ा भी हो तो भी संसार के कठोर विप्लव और विभीषिकाओं से टक्कर लेकर समाज को एक नई दिशा दे सकती है।

यह कार्य उस युग के लिए वरदान था, तो इस युग की जनक्रांति के लिए भी मार्गदर्शक है, जिस पर आरूढ़ होकर नये युग का प्रत्यावर्तन किया जाना है।

महापुरुष का महाप्रयाण—

उन्मुक्त आत्माओं ने स्वयं आकर भारतवर्ष की अधार्मिकता को समय-समय पर नष्ट किया और सत्य धर्म की प्रतिष्ठा की।

उन्होंने अपने प्रयाण से पूर्व वह व्यवस्था भी की, जिससे उनके न रहने पर भी धार्मिक शक्तियों का प्रभाव और प्रसार बढ़ता रहे।

चार मठों की स्थापना हो चुकी थी, पर वे अपने आप में अपूर्ण थे, जब तक उनमें जन-जागरण का मंत्र फूँकने वाली जीवित प्रतिमाएँ न प्रतिष्ठित की जातीं। जगद्गुरु ने सारी जिंदगी लोगों की मानसिक समीक्षा में बिताई थी। संसार में बुरे लोग हैं, पर भलों की संख्या उनसे अधिक है। उन्होंने कुछ ऐसे उत्कृष्ट, निष्ठावान् और त्यागपूत शिष्य भी ढूँढ़ निकाले, जो उनके न रहने पर वैदिक धर्म की पताका फहराए रहते और फिर इस परंपरा को बहुत काल तक जीवित बनाए रहते। तोटकाचार्य को उत्तर दिशा में शारदामठ और सुरेश्वर को दक्षिण दिशा में शृंगेरी मठ का भार सौंपकर उन्होंने एक दीर्घ निश्चिंतता अनुभव की। जगद्गुरु के त्याग, तपस्या और साधना का ही प्रभाव है कि यह परंपरा आज भी चली आ रही है। ज्योति-पीठों में अभी तक उन्हीं लोगों को उत्तरदायी नियुक्त किया जाता है, जिनमें धार्मिक तत्त्व, विश्व-कल्याण की प्रतिभा समासीन होती हो। यह पीठ वैसी प्रेरणाएँ भले ही प्रसारित न कर पाते हों, पर उन्होंने भारतीयों की आध्यात्मिक आस्थाओं, श्रद्धा और निष्ठा को जीवित रखने में बड़ा योगदान दिया है।

सारी व्यवस्थाएँ संपन्न कर जगद्गुरु बद्रिकाश्रम चले गए। जीवन के अंतिम दिनों में भी अद्वैत धर्म का उपदेश देते रहे और मनुष्यों के कल्याण की योजनाएँ बनाते रहे। इसके बाद कुछ समय केदारनाथ में व्यतीत किया और यहीं आपने ३२ वर्ष की अत्यल्प आयु में समाधि लेकर इस नश्वर शरीर का परित्याग कर दिया। संसार को ज्ञानामृत पिलाने के कारण उन्हें जगद्गुरु की उपाधि से स्मरण किया गया। मानवता और मानव धर्म उनके अटूट तप के चिरकाल तक ऋणी रहेंगे।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)